

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३५ अंक-१६७, वर्ष-१५, अगस्त-२०११

श्रावण सुदि १२, मंगलवार, दि.१५-८-७८, बहिनश्री के वचनामृत
१७७ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-६५

चैतन्य की स्वानुभूतिरूप खिले हुए नंदनवन में साधक आत्मा आनन्दमय
विहार करता है। बाहर आने पर कहीं रस नहीं आता। १७७

१७७ है। है न ? सूक्ष्म विषय है। 'चैतन्य की स्वानुभूतिरूप खिले हुए
नंदनवन में साधक आत्मा आनन्दमय विहार करता है।' आहा..हा..! क्या कहते
हैं ? कि यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप है और अतीन्द्रिय ज्ञान और शांति
का पूर्ण स्वरूप है। इसका अनुभव करके... चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का
विकल्प हो, वह कोई धर्म नहीं है और धर्म का कारण नहीं है।

मुमुक्षु :- परंपरा कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- परंपरा कारण है ही नहीं। परंपरा कारण कहा है वह तो
सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मअनुभव हुआ, मैं निर्विकल्प आनंदस्वरूप हूँ। ऐसा अनुभव
हुआ तो वह जो अनुभूति वह मोक्ष का कारण है। तो साथ में राग आया उसका
आरोप करके, परंपरा यानी पीछे छोड़कर स्थिरता होगी इसलिये परंपरा (कहा है),
सम्यग्दृष्टि को परंपरा कारण कहा है। अज्ञानी (का) जो व्रत, भक्ति और पूजा (का)
भाव है वह परंपरा कल्याण का कारण है, वह बिलकुल झूठ है। सूक्ष्म बात है।
आहा..हा..!

मुमुक्षु :- ...

पूज्य गुरुदेवश्री :- होगा बापू ! अनंतकाल हुआ, भाई ! आहा..हा..! अरे..!
प्रभु ! चोराशी के अवतार में एक-एक योनी में अनंत अवतार किये, भाई !
आहा..हा..! उसमें त्रसपना पाना उसे चिंतामणि जैसा कहा। आहा..हा..! उस चीज
में इतना दुःख भोगा, नरक भूमि गये... आहा..हा..! एक क्षण के नरक के दुःख,
भगवान ! ऐसा फरमाते हैं कि एक क्षण के दुःख, क्रोध जीभ और क्रोध भव में भी
कह सके, प्रभु ! आहा..हा..! अरे..! प्रभु !

आत्मा के आनंद स्वरूप से विरुद्ध दृष्टि के कारण... आहा..हा..! व्यवहार, दया, दान, व्रत, भक्ति से मेरा
कल्याण होगा, वह मिथ्यात्वभाव है। उस मिथ्यात्वभाव के कारण नरक में अनंत बार गया, निगोद में अनंतबार



गया, प्रभु ! आ..हा..! उस नरक के एक क्षण का दुःख, एक क्षण का... 'रत्नकरंड श्रावकाचार' में है और 'छह ढाला' में है। क्रोड जीभ से और क्रोड भव से... अरे...! प्रभु ! क्या है ? भाई ! आहा..हा..! अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु ! सच्चिदानंद स्वरूप, उसका दृष्टि में आश्रय लिया नहीं और पुण्य-पाप के भाव में आश्रय लेकर मेरा हित होगा, ऐसे मिथ्यात्वभाव का सेवन किया। उस मिथ्यात्व के कारण अनंतबार योनी में अवतरे और नरक का दुःख एक क्षण का... आहा..हा..! भाई ! तुने कभी विचार किया नहीं। आहा..हा..!

क्रोड जीभ और क्रोडों भव से एक क्षण के दुःख नहीं कह सकते। प्रभु ! तुम अनंतबार ३३ सागर में गये। १० हजार वर्ष की नरक की स्थिति में अनंतबार गये। १० हजार और एक समय में अनंतबार गये। दोसमय में अनंतबार गये। ३३ सागर की स्थिति में अनंतबार गये, प्रभु ! उस दुःख का वेदन... आहा..हा..! तो तू एकबार सम्यग्दर्शन प्रगट कर। आहा..हा..! स्वानुभूति (कर)। राग और पुण्य का अनुभव है वह कर्मचेतना, कर्मफलचेतना का अनुभव होता है वह मिथ्या अनुभव है। क्या कहा ? जितने भी शुभभाव आदि, दया, दान, व्रत, भक्ति का हो, वह शुभभाव कर्मचेतना है। विकारभाव का चेतन उसमें है। विकारभाव का वेदन है। आहा..हा..! समझ में आया ?

साधकजीव को... आहा..हा..! 'चैतन्य की स्वानुभूतिरूप...' भगवान अनंत गुण का पिंड प्रभु ! उसके सन्मुख होकर, निमित्त, राग और पर्याय कि रुचि से छूटकर त्रिकाली ज्ञायकभाव के आनंद के धाम की रुचि करके अनुभव करना, उस अनुभूति में 'खिले हुए नन्दनवन में...' आहा..हा..! जैसे इस दुःख में अनंतकाल गया, ऐसे भगवान आत्मा अपने आनंदस्वरूप का अनुभव करे। आहा..हा..! एक क्षण के आनंद में, अनुभूति में, 'नन्दनवन में साधक आत्मा आनन्दमय विहार करता है।' आहा..हा..! ४१२ गाथा में कहा है। 'समयसार' ४१२. 'तत्थेव' 'समयसार' ४१२ गाथा। आहा..हा..! प्रभु ! तेरी चीज अंदर में आनंद का धाम (है)।

आहा..हा..! तेरी प्रभुता का पार नहीं प्रभु ! ऐसी अंतर शक्ति का सागर प्रभु ! उसके सन्मुख होकर अनुभूति करना, यही धर्म की पहली सीढ़ी, शुरुआत है। उसके बिना भक्ति, पूजा, दान, व्रत और क्रोडों रुपयों के दान दे और क्रोडों मंदिर बनाये, उसमें तो शुभभाव दुःखरूप है। आहा..हा..! 'चैतन्य की स्वानुभूति...' आहा..हा..! भगवान अनंत पवित्र स्वभाव से भरा पड़ा है। उसके सन्मुख होकर जब उसका अनुभव होता है, उसका नाम सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी कहलाते हैं। बाकी सब व्यर्थ हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- सन्मुखता कैसे हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- बाहर में लक्ष्य करते हैं, बाहर में लक्ष्य करते हैं कि नहीं ? आर्तध्यान और रौद्रध्यान करना आता है कि नहीं ?

मुमुक्षु :- ...

पूज्य गुरुदेवश्री :- ध्यान करना आता है कि नहीं ? पर का, राग का, पुण्य का ध्यान करना आता है कि नहीं ? तो जैसे राग का ध्यान करते हैं - आर्तध्यान, वह मिथ्यात्वभाव है, दुःखरूप है। आहा..हा..! ऐसे अंतर में ध्यान का लगाना। बाहर का ध्यान करते हैं उसे अंदर में लगाना। बाद में आयेगा। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! वर्तमान में तो मार्ग को विपरीत कर दिया है, भाई ! आहा..हा..! अंतर भगवान ! अंतर की ज्ञान की पर्याय में उसका लक्ष्य करके, श्रद्धा की पर्याय में उसका आश्रय करके, जो अनुभूति होती है, उस आनंद के स्वाद के साथ ज्ञानचेतना प्रगट हुई। आहा..हा..!

'नन्दनवन में...' आहा..हा..! 'साधक आत्मा...' अपने स्वरूप का साधक सम्यग्दृष्टि जीव... आहा..हा..! 'आनंदमय विहार करता है।' अतीन्द्रिय आनंद में वह विचरता है, चाहे तो वह गृहस्थाश्रम में हो। आहा..हा..! लेकिन धर्मी और समकिती उसे कहें, जो अपने अतीन्द्रिय आनंद के अनुभव में विचरे। आहा..हा..! नन्दनवन, आनन्द का वन है अन्दर। आहा..हा..! सारे अनंतगुण बाग में पड़े हैं, खील जाते हैं। आहा..हा..! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! लेकिन समझनी तो पड़ेगी न भाई ! ऐसा मनुष्यपना

मिला और उसमें जैन में जन्म हुआ और जैन में वीतराग की वाणी सुनने मिली, प्रभु ! तो तुझे करना पड़ेगा। आहा..हा..! वरना तो बहुत बार अनंतबार, एक श्वास में अठारह भव निगोद (के किये)। गजब बात है। क्या है यह ? सुनता है लेकिन विचार करे तो पता चले। एक निगोद के भव में, एक श्वास में... यह श्वास मनुष्य का श्वास, हाँ ! देव का श्वास तो पन्द्रह दिन श्वास रुकता है। क्या कहा ? जो सागरोपमवाले देव हैं, उन्हें पन्द्रह दिन में श्वास आता है। वह बात नहीं। समझ में आया ?

देव, जो पुण्य के फल में स्वर्ग मिले। एक सागर की स्थिति हो तो पन्द्रह दिन में तो साँस लेते हैं। श्वासोश्वास। श्वास और उच्छ्वास-दो हुए न ? वह श्वास यहाँ नहीं लेना। यहाँ तो मनुष्य का जो श्वास-उच्छ्वास है, एक श्वासोश्वास में निगोद के अठारह भव किये, प्रभु ! भूल गया। भूल गया इसलिये नहीं है ऐसा कैसे कहें ? जन्म के बाद छः मास में माताने क्या खिलाया, कैसे नहलाया, मालूम है ? याद है ? याद नहीं है इसलिये नहीं था ? आहा..हा..! इसी भव में छः मास में जन्म के बाद क्या हुआ ? कैसे रोया ? कैसे खाया ? कैसे पिया ? कैसे दूध पिलाया ? यह क्रिया हुई है न ? याद है ? याद नहीं इसलिये नहीं थी ? ऐसा कोन कहे ? ऐसे पूर्व भव का याद नहीं है तो पूर्व भव में इतने दुःख सहन किये, वह नहीं है ? कौन ऐसा कहै ? समझ में आया ? लोजिक से, न्याय से समझना पड़ेगा। आहा..हा..!

कहते हैं कि प्रभु ! एकबार सुनो तो सही। तेरी प्रभुता अनंत इतनी पड़ी है कि अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... शक्तियाँ हैं और एक-एक शक्ति में अनंत-अनंत प्रभुता है। आहा..हा..! ऐसी अनंत प्रभुता का पिंड प्रभु तेरी चीज़ अन्दर है भगवान ! आहा..हा..! आचार्य तो भगवान कहकर बुलाते हैं। आहा..हा..! ७२ गाथा। कर्ता-कर्म की। वहाँ लिया है। संस्कृत टीका है। पुण्य और पापभाव, शुभ और अशुभभाव अशुचि है, मैल है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तीर्थयात्रा आदि के भाव, यह सब मैल है, शुभभाव मैल है। बाद में 'अमृतचंद्राचार्य'ने

टीका में लिया है, भगवानआत्मा। ऐसा टीका में लिया है। आहा..हा..!

पुण्य और पाप के विकल्प, प्रभु ! यह राग है, दुःख है, आकुलता है, नाथ ! प्रभु ! तुम तो भगवान आत्मा। अशुचि के स्थान में वह शुचि-पवित्र है। आहा..हा..! शरीर अशुचि है वह बात यहाँ नहीं। ये तो मांस और हड्डी और चमड़े का पुतला है। उसकी यहाँ बात नहीं। लेकिन अन्दर में जो शुभ और अशुभभाव होता है... आहा..हा..! वह अशुचि है, मलिन है। भगवान आत्मा पवित्र है। ऐसा संस्कृत टीका में आचार्य महाराज 'अमृतचंद्राचार्य' दिगम्बर संत। भगवान कहकर तो बुलाते हैं, प्रभु ! समझ में आया ? भगवान आत्मा तो निर्मलानंद है न प्रभु ! एक बोल।

दूसरा बोल-रागादिभाव है... आहा..हा..! वह जड़ है, अचेतन है। आहा..हा..! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, तप का भाव-विकल्प वह अजीव है, जड़ है। क्यों ? कि, राग अपने को जानता नहीं और राग चैतन्यस्वरूप भगवान साथ में बिराजते हैं, उसको जानता है। और राग पर द्वारा जानने में आता है, ज्ञान द्वारा जानने में आता है, ज्ञान द्वारा जानने में आता है। उस कारण से राग अजीव और जड़ है। आहा..हा..! भगवान आत्मा चैतन्य विज्ञानघन है। उसके सामने ऐसा लिया। तीन बार लिया है। आहा..हा..! शुभभाव अचेतन जड़ है, प्रभु ! उससे आत्मा का कल्याण होगा, (ऐसी मान्यता) महामिथ्यात्व का सेवन है, महा पाखंड श्रद्धा का सेवन है।

मुमुक्षु :- पुण्य से तो अरिहंतपद मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- पुण्य से अरिहंतपद नहीं मिलता है। 'पुण्यफला अरहंता' जो कहा है, उसका अर्थ दूसरा है। टीका है उसमें उपर। वह तो उसको समवसरण मिले वह। समझ में आया ? यहाँ है, देखो ! पाठ में। ४५ है न ? देखो उसमें 'पुण्यफला अरहंता' संस्कृत। 'तीर्थकृतां तीर्थकर को 'पुण्यविपाकोअकिंचित्करः' संस्कृत में पहला शब्द है। भगवान को पुण्य अकिंचित्कर है, क्यों कुछ नहीं करता उनको ? 'अकिंचित्करः इति एवं आख्याति' आहा..हा..! तो लोग ऐसा अर्थ करते हैं,

‘पुण्यफला अरहंता’ पुण्यमें से अरिहंतपद प्राप्त होता है। बिलकुल मिथ्याश्रद्धा अज्ञान है।

यहाँ तो पुण्य फल, उनकी वाणी, औदारिक शरीर आदि मिला वह पुण्य का फल है। वह उदयभाव है। यहाँ तो कहा है न ‘तीर्थकृतां’ ‘तीर्थकर को’ ‘पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर’ अकिंचित्कर ही है। ‘पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयिति’ आहा..हा..! ‘प्रवचनसार’ है। समझ में आया ? आगम का तो यह वाक्य है। तो ऐसा कहते हैं ‘पुण्यफला अरहंता’ पुण्य के फल में अरिहंतपद मिलता है। अरे..! प्रभु ! ऐसा है नहीं। पुण्य तो राग है। उसके फल में वीतरागता सर्वज्ञ होता है ? आहा..हा..!

राग से रहित... (प्रवचनसार की) १६वीं गाथा में कहा है, स्वयंभू-अपना आत्मा जब केवलज्ञान पाता है तो अपने शुद्धोपयोग से पाता है। समझ में आया ? ‘स्वयंभू १६ वी गाथा है। १५-१६ गाथा। ‘स्वयंभू। अपनी केवलज्ञान की पर्याय अपने से कर्ता-कर्म (से हुई) है। पूर्व की पर्याय से भी केवलज्ञान हुआ नहीं। आहा..हा..! केवलज्ञान की एक समय की पर्याय षट्कारक से परिणमन होकर अपने से उत्पन्न होती है। आहा..हा..! वह पुण्य से उत्पन्न होती है, यह बात तीनकाल में है नहीं। पुण्य से तो नहीं, लेकिन पूर्व की मोक्षमार्ग की पर्याय है, उससे भी केवलज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा भी नहीं। क्यों ? कि, मोक्षमार्ग की पर्याय है वह तो व्यय होती है, और केवलज्ञान की तो उत्पत्ति होती है। तो व्यय से उत्पत्ति होती है ? आहा..हा..! समझ में आया ?

वह तो षट्कारक के परिणमन से (उत्पन्न हुई है)। १६ वीं गाथा में है। केवलज्ञान तो कर्ता पर्याय, कर्म पर्याय, साधन पर्याय, संप्रदान पर्याय, अपादान पर्याय, अधिकरण पर्याय। पर्याय के षट्कारक से उत्पन्न होती है। द्रव्य-गुण के आश्रय से भी नहीं। आहा..हा..! सत्। सत्... भगवान केवलज्ञान सत् पर्याय प्राप्त होती है। केवलज्ञान, मोक्षदशा यह अपनी पर्याय में षट्कारक के परिणमन से उत्पन्न होती है। आहा..हा..! पूर्व की पर्याय से नहीं, पुण्य से नहीं, निमित्त से नहीं, संघयण मजबूत

आया तो उससे नहीं। ऐसा स्वरूप है, भाई ! उसने कभी सुना नहीं। लोजिक से, न्याय से क्या चीज है ? समझ में आया ? भगवान का मार्ग ... न्याय मार्ग है। तो न्याय से वस्तु की सिद्धि करते हैं। अन्याय और कुन्याय से सिद्धि करने जायेगा तो तुझे मिथ्यात्व होगा। आहा..हा..! समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं, ७२ गाथा के दो बोल आये। (रागादि) अशुचि (है), भगवान निर्मलानंद (है)। राग अचेतन, भगवान चैतन्यस्वरूप। राग दुःखरूप, भगवान आनन्दरूप, आहा..हा..! तीन बोल हैं। ७२ गाथा। शुभराग दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का, दान का, करोड़ों रुपये का दान का भाव, राग मंद किया हो तो पुण्य है, दुःख है। आहा..हा..! कभी सुना नहीं। ऐसे ही हम धर्म करते हैं (मान लिया था)। धूल में भी धर्म नहीं। धूल में नहीं, उसका अर्थ क्या ? कि जो सम्यग्दृष्टि को पुण्यानुबंधी पुण्य बंधता है, ऐसा मिथ्यादृष्टि को नहीं बंधता है। उसको तो पापानुबंधी पुण्य बंधता है। आहा..हा..! समझ में आया ?

राग को दुःख कहा और भगवान आनंद स्वरूप है। वहाँ तो ऐसा लिया है कि दुःख का कारण आत्मा की पर्याय नहीं और राग का कार्य आत्मा की पर्याय नहीं। अकारणकार्य शक्ति वहाँ से निकाली है ? ४७ शक्ति निकाली है। पहली जीवतरशक्ति है। ‘जीवों चरित्तदंसणणआणटिदो’ दूसरी गाथा। पहले शब्दमें से जीवतरशक्ति निकाली है। आहा..हा..! अकार्यकारणशक्ति ७२ गाथा की टीका में लिया है कि, भगवान आत्मा की आनंदरूप जो दशा है वह कोई राग का कार्य नहीं। आहा..हा..! और राग का वह कारण भी नहीं। आहा..हा..! समझ में आया ? उसकी निर्मलानंद पर्याय का कर्ता-करण आदि उसकी पर्याय तो स्वतंत्र है। आहा..हा..! उसे ऐसा कहना कि, पुण्य के फल में अरिहंतपद प्राप्त है, प्रभु ! गजब करते हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- परसन्मुख होता है तब तो पुण्य होता है...

पूज्य गुरुदेवश्री :- राग की दिशा पर की ओर है। राग की दशा-दिशा पर की ओर है। सुनो ! चाहे तो

शुभराग हो, वह राग की दशा, उसकी दिशा पर की ओर है। और वीतराग पर्याय दशा, उसकी दिशा द्रव्य पर है समझ में आया ? चाहे तो तीर्थकरगोत्र का भाव हो। वह राग है और राग की दिशा पर की ओर है। आहा..हा..! और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो वीतरागी पर्याय है, वह दशा, उसकी दिशा द्रव्य के उपर है। आहा..हा..! दशा कि दिशा। राग की दशा की दिशा।

'मोक्षपाहुड' में १६ वीं गाथा में 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने तो वहाँ तक कहा, 'परदब्बादो दुग्गई' आहा..हा..! गजब बात कही। 'कुन्दकुन्दाचार्य' और भगवान ऐसा कहे कि, हम तुम्हारी अपेक्षा से परद्रव्य ही हैं। और हमारे पर तेरा लक्ष्य जायेगा तो तेरी चैतन्य की गति की दुर्गति होगी। १६ वीं गाथा। आहा..हा..! लोगों को तत्त्व का पता ही नहीं। ऐसे ही मूढ़ होकर चले जाते हैं। ऐसा किया, वैसा किया।

मुमुक्षु :- दुर्गति का अर्थ समजाईए।

पूज्य गुरुदेवश्री :- दुर्गति का अर्थ यह नहीं। चैतन्य कि परिणति से विपरीत वह दुर्गति। १६ वीं गाथा है। 'परदब्बादो दुग्गई' 'कुन्दकुन्दाचार्य' ऐसा कहते हैं, हमको मानने में तेरा जो भाव होता है वह राग है। यह दुर्गति नाम चैतन्य की परिणति नहीं। आहा..हा..! मार्ग दूसरा है, भाई ! आ..हा..! लोगों का बाहर में भी ठिकाना नहीं। और मान जहाँ हो वहाँ अभिमान (करते हैं), मैंने किया.. मैंने किया... मुझे मान मिला। अभिनंदन मुझे मिला। पाप है वहाँ। पुण्य का भी कहाँ ठिकाना है ? समझ में आया ? यहाँ तो पुण्यभाव हो तो वह दुर्गति नाम चैतन्य की परिणति नहीं। वह विकार गति है तो चैतन्य की दुर्गति नाम विपरीत गति-परिणाम है। आहा..हा..!

'सदब्बादो हु सुग्गई' ऐसा शब्द है वहाँ। भगवान ! यह अनुभूति। स्वद्रव्य भगवान पूर्णस्वरूप उसका लक्ष्य करके जो अनुभूति हुई वह 'सदब्बादो हु सुग्गई' यह चैतन्य की सुगति है। यह चैतन्य की परिणति सुगति है। और उसका फल भी सिद्ध नाम सुगति है। सिद्ध सुगति है और चार गति है वह दुर्गति है। आहा..हा..!

समझ में आया ? सब कहते हैं हमको मालूम है।

अभी तो 'जैनदर्शन' में एक लेख ऐसा आया है कि चौथे, पाँचवें, छठवे तो शुभयोग ही होता है। और १२ वीं गाथा में आया न ? 'सुद्धो सुद्धादेसो णादब्बो परामभावदरिसीहिं। ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे द्विदा भावे' इसका अर्थ विपरीत किया कि जो परमभाव में स्थित है, सर्वज्ञ है उनको अब नय नहीं लेकिन नय-शुद्धनय कहाँ तक है ? सातवें से बारहवें तक। चौथे से छठे तक शुभ है। सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोग है। और केवल में शुद्धोपयोग का फल है। 'प्रवचनसार' की गाथा है। उसमें कहा है कि, संस्कृत टीका है, उपयोग की अपेक्षा से लेते हैं तो पहले गुणस्थान, दूसरे गुणस्थान, तीसरे गुणस्थान में अशुभ उपयोग है। और छठे से बारहवें तक... आहा..हा..! समझ में आया ? चौथे बारहवें तक... चौथे, पाँचवे, छठे तक शुभउपयोग है। और सातवें से बारहवें में शुद्धउपयोग है। वह तो मुख्यता से बात की है। आहा..हा..!

बाकी तो 'द्रव्यसंग्रह' की ४७ गाथा है। ४७ कहते हैं न ? चार और सात। 'दुविहं पि मोक्खहेउं ज्ञाणे पाउणदि जं मु णियमा।' ऐसा पाठ है। 'दुविहं पि मोक्खहेउं' दो प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान में प्राप्त होता है। उसका अर्थ क्या ? कि अपना चैतन्यमूर्ति जो अंतर आनन्द स्वरूप भगवान, उसकी अनुभूति करके अंदर जो दशा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, वह निश्चयमोक्षमार्ग है। वह ध्यान में आता है। अंतरस्वरूप का दृष्टि हो वह ध्यान में आता है। तो ध्यान है वहाँ शुद्धोपयोग है। शुभउपयोग नहीं। आहा..हा..! समझ में आया ? और त्रिकाली भगवान के ध्यान में जो शांति, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र हुआ वह निश्चयमोक्षमार्ग है। साथ में राग रहा उसको उपचार से व्यवहार मार्ग कहा। अभी तो ध्यान है तो भी ऐसा कहा। आहा..हा..! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि, व्यवहार है, पुण्यफल से अरिहंतपद प्राप्त होता है, प्रभु ! वह दृष्टि बिलकुल विपरीत है। अंदर उपर लिखा है कि, अकिंचित्कर है। तीर्थकर को पुण्य अकिंचित्-कुछ भी करते नहीं। पुण्यफल

तो देह, वाणी, चलना, हिलना वह उसका पुण्यफल है। और वह पुण्यफल भी समय-समय पर नाश होता है तो उदय का क्षायिकभाव कह दिया है। ४५ गाथा है। समझ में आया ? जैसे नीचे के गुणस्थान में अपने स्वरूप में ध्यान में है। आनंद और ध्यान में (है), उदय आया तो वह उदय खीर जाते हैं, आया वह खीर जाते हैं। अन्दर आनन्द में है तो उदय खीर जाता है। वहाँ जैसे खीर जाता है, वैसे केवली को जो बोलने आदि का कर्म का उदय आया वह उदय समय-समय में आया वह खीर जाते हैं। खीर जाता है तो उसको क्षायिकभाव कह दिया है। आहा..हा..! अभी तो मार्ग का सच्चा ज्ञान व्यवहार से भी सच्चा नहीं, उसको सम्यग्दर्शन और अनुभूति कहाँ से होगी ? आहा..हा..! समझ में आया ?

आनन्दवन में विहार करता है। **'बाहर आने पर कहीं रस नहीं आता।'** आहा..हा..! आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान हुआ, तो उसमें आनन्द में विचरते हैं। बाहर जहाँ विकल्प आया, उसमें रस नहीं। आहा..हा..! बाहर आने पर कहीं रस नहीं। शुभभाव आया, होता है, ज्ञानी को भी शुभभाव आता है लेकिन रस नहीं (आता)। आहा..हा..! समझ में आया ? यह पुस्तक तो अब चालीस हजार, पचास हजार बाहर आ गये हैं। बहुत पुस्तक ... आहा..हा..! देखा है कि नहीं ? वचनामृत पुस्तक आया कि नहीं ? आया ? पढ़ा है ? पढ़ा नहीं। आहा..हा..!

यहाँ कहते हैं... आहा..हा..! स्वरूप का आनन्द का अनुभव सम्यग्दर्शन में हुआ, अनुभूति जहाँ हुई, धर्म की प्रथम दशा जहाँ प्रगट हुई, उसको बाहर आने में, राग में दुःख लगता है। **'रस नहीं आता।'** बाहर में दिखे। इन्द्र भी भगवान की भक्ति करे। क्या कहते हैं ? नंदीश्वर द्विप, नंदीश्वर द्वीप है न शाश्वत ? प्रतिमा शाश्वत है। वहाँ अष्टद्विका में इन्द्रों जाते हैं। नाचे, दिखे ऐसा, बाहर में उत्साह दिखता है। समकिति हैं, ज्ञानी हैं, पहले देवलोक का इन्द्र। पैर मैं घुंघरुं बाँधकर भगवान के सामने नाचे, उत्साह दिखे। लेकिन उस शुभभाव में रस है नहीं। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- नाचने में तो आनन्द आता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री :- कहा न, नाचने की क्रिया तो जड़ की है। जो राग आया वह विकार है, दुःख है। आहा..हा..! कठिन बात, भाई ! बाहर में तो ऐसा ही दिखे। भगवान की स्तुति करे तो उत्साह दिखे, लेकिन अन्दर में (रस नहीं)। कल कहा था, १४३ गाथा है 'समयसार', सम्यग्दृष्टि ज्ञान की क्षयोपशम दशा है, अल्पदशा है तो विकल्प आता है। लेकिन विकल्प से उत्साह की निवृत्ति है। उसमें रस नहीं। आहा..हा..! बहुत सूक्ष्म बात, बापू ! मार्ग अलौकिक है। आहा..हा..! और जैनदर्शन के अलावा यह चीज कहीं पर भी नहीं। और वह जैनदर्शन, एक दिगंबरदर्शन है वह जैनदर्शन है। बाकी और कहीं नहीं है। अरे..रे..! क्या हो ? पक्ष में आकर लोग सत्य को असत्य कर दे, ऐसा नहीं होगा। वस्तु तो वस्तुरूप रहेगी। आहा..हा..! अन्यथा करेगा तो उसकी दृष्टि में अन्यथा होगी। वस्तु में अन्यथा नहीं होगी, वस्तु तो वस्तु है। आहा..हा..!

यहाँ कहते हैं, ज्ञानी बाहर निकले फिर भी रस नहीं आता। शुभभाव आता है। आहा..हा..! 'भरतेश वैभव' में एक लेख है। 'भरतेश वैभव' है न ? 'भरत' चक्रवर्ती क्षायिक समकिति था। और राग अशुभ आया। भोग के काल में अशुभराग हुआ। क्रिया तो जड़ की होती है। आहा..हा..! लेकिन जब अशुभ आया तो दुःख लगता है और जहाँ भोग पूरा हुआ और नीचे बैठते हैं (तो) निर्विकल्प ध्यान हो जाता है। 'भरतेश वैभव' में है। धर्मीजीव को अशुभराग, भोग की वासना आयी। लेकिन दुःख (लगता है)। जहाँ (राग) पूरा हुआ, वहाँ दूसरे क्षण में निर्विकल्प आनन्द ध्यान हो गया। आहा..हा..! क्योंकि लगनी वहाँ है। बापू ! मार्ग कोई अलग जात का है, भाई ! आहा..हा..! जहाँ आत्मा का निर्विकल्प सम्यग्दर्शन अनुभव हुआ, उसको राग आया (लेकिन) रस नहीं आया। और राग छूटकर एक क्षण में, दूसरे क्षण में ध्यान में आ जाता है। ऐसी चीज है। आहा..हा..! समझ में आया ? उस राग में रस नहीं। १७७ (बोल पूरा) हुआ।



बहिनश्री के वचनामृत ९०-९१ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन,
प्रवचन नं. ७४, (दि.१९-४-१९८७)

संसार की अनेक अभिलाषारूप क्षुधा से दुःखित मुसाफिर ! तू विषयों के लिये क्यों तरसता है ? वहाँ तेरी भूख शांत नहीं होगी। अन्तर में अमृतफलों का चैतन्यवृक्ष लगा है उसे देख तो अनेक प्रकार के मधुर फल एवं रस तुझे प्राप्त होंगे, तू तृप्त-तृप्त हो जायेगा।९०

आगे कहते हैं कि, 'संसार की अनेक अभिलाषारूप क्षुधा से दुःखित मुसाफिर !' जीव को मुसाफिर कहा है। वह मुसाफिरी करते ही रहता है। चारों गतियों में और तीन लोक में - ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक में बहुत लंबी मुसाफिरी करता है - लंबी Travelling करता है। यहाँ तो हजार-दो हजार मील की या दस-बीस हजार मील की आदमी मुसाफिरी कर सकता है। दुनिया का छोटा आ जाता है। लेकिन असंख्ययोजन में जाता है। कभी कहाँ, कभी निगोद में, कभी उपर, कभी नीचे, कभी मध्य में कहाँ का कहाँ (जाता है)। क्यों ? कि, संसार की अनेक अभिलाषारूप क्षुधा से वह दुःखित है। यह चाहिये, वह चाहिये, संसार का यह पदार्थ चाहिये, संसार का वह पदार्थ चाहिये। उपयोग भ्रमण करता है, भाव उसका भ्रमण करता है। भावभ्रमण का फल मिलता है द्रव्यभ्रमण। भावभ्रमण का फल क्या मिलता है ? द्रव्यभ्रमण।

'घोघा' में वह देखा था न ? बारिश में बत्ती के जो जीव हैं - Road light ! इतनी तेजी से घूमते हैं कि, जो कीड़ा है, वह पंखवाला कीड़ा होता है, उस एक पंखवाले पर नजर नहीं रख

सके। इतनी तेजी से वह घूमता है। क्यों इतनी तेजी से (घूमता है) ? कि, उतनी ही तेजी से उसने भाव घुमाया है। उपयोग की चंचलता ! यह रूप का आकर्षण है। रूप को देखने में इतनी तेजी से उपयोग घुमाया है फिर वह प्रकाश का कीड़ा बनता है। प्रकाश को देखकर झपट लगाता है, जोर-जोर से झपट लगाता है। कहाँ तक लगाता है ? मरता नहीं है वहाँ तक। सुबह-सुबह देखो तो हजारों, सैंकड़ों-हजारों नीचे गिरे हुए दिखने में आते हैं। इस भावभ्रमण का फल है द्रव्यभ्रमण।

संसार के पदार्थ की - अनेक पदार्थ की अभिलाषारूप भूख है, एक अभिलाषारूप अग्नि है। क्षुधा में अग्नि है न ? उसे जठराग्नि बोलते हैं। यह भी एक अग्नि है जिसका दाह होता है। शांतस्वरूप जीव को दाह होता है। 'राग आग दहे सदा, तातै समामृत सेईए' जीव को दाह होता है। जैसे क्षुधा का दाह होता है वैसे राग का दाह होता है।

'संसार की अनेक अभिलाषारूप क्षुधा से दुःखित मुसाफिर ! तू विषयों के लिये क्यों तरसता है ?' ज्ञानी यह प्रश्न पूछते हैं। विषयों के लिये तू तरसता है। जैसे किसीको प्यास लगती है और

पानी के लिये छटपटाहट चलती है। पानी नहीं मिले तो यह तड़पता है। वैसे बाह्य पदार्थ नहीं मिलता है तो वह झपट करता है, झाँवा नाखता (छटपटाता) है। अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं को गौण करके इच्छित पदार्थ को, अभिलाषित पदार्थ को पाने के लिये जीव तरसता है। उसको सत्पुरुष पूछते हैं कि, तू क्यों तरसता है ?

‘हाँ तेरी भूख शांत नहीं होगी।’ इसलिये प्रश्न पूछा कि, तू तरसता है, चेष्टा करता है, प्रयास करता है लेकिन तेरी भूख तो शांत होनेवाली नहीं है। जिस प्रयास से तुझे शांति नहीं मिलेगी ऐसा उलटा प्रयास तू क्यों करता है ? तो यही कहते हैं कि, हम इच्छित पदार्थ को जूटा लेते हैं। जूटा लेते हैं माने पा लेते हैं तो हमको ठीक लगता है। फिर भी वहाँ यह भूख शांत नहीं होती। यह एक ऐसी भूख है कि जैसे अग्नि में कोई घी डालता है तो (अग्नि) अधिक तेज हो जाती है। वैसे यह क्षुधा अधिक तेज होती है।

एक क्षुधा तो Temporary शांत हो जाती है। जठराग्निवाली जो क्षुधा है उसमें कुछ रोटी, दाल, चावल डाल देते हैं तो थोड़ी देर - चार, छः घण्टे के लिये शांत हो जाती है। लेकिन यह तो शांत होती ही नहीं। यह तो एक विकल्प शांत हुआ कि दूसरा विकल्प चल गया, पैदा हो गया। इसको शांति से भोगा नहीं भोगा, दूसरे पदार्थ की अभिलाषा खड़ी हो जाती है और वह अशांति बढ़ती जाती है।

यहाँ तो बात दूसरी बतानी है कि, बाह्यपदार्थ की अनादि से तुझे अभिलाषा हुई। बाह्य पदार्थ की अभिलाषा-अग्नि से तुझे अशांति हो रही है। अब, इसकी शांति के लिये एक रास्ता है, एक उपाय है, एक मार्ग है - यह बात यहाँ करनी है।

‘अन्तर में अमृतफलों का चैतन्यवृक्ष लगा है...’ यह एक पूज्य ‘बहिनश्री’ की विशिष्टता है कि, आत्मा के स्वरूप के विषय में बहुत से मीठे शब्दों

से इस विषय को व्यक्त कर सकते हैं। कहते हैं कि, तुझे बाहर के फलों से या बाहर के विषयों से तेरी विषय की भूख शांत नहीं होगी, बढ़ती जायेगी। शांत हो नहीं होगी वरन बढ़ती जायेगी। और इसे शांत करने का एकमात्र उपाय है कि, आत्मा में जो आनंद-अमृत है उसका भोजन लेने से (तृप्ति होगी)। इधर तो चैतन्यवृक्ष, अमृत के फलों के वृक्ष की उपमा दी है।

जैस आम का पेड़ होता है। अच्छी-अच्छी बढ़िया Quality के आम बनते हैं। खाते वक्त बोलते हैं कि, आ..हा..! यह तो अमृत जैसा आम है ! उसका आनंद लेने में तो दुःख है। ये मानते हैं भले सुख, लेकिन सुख है नहीं। असल में वहाँ भी आकुलता ही होती है। यह इच्छा की जो अग्नि है उसे शांत करने के लिये आनंद की वर्षा - अंतर आनंद की वर्षा एक ही समर्थ है। वहाँ तक कभी शांति नहीं होती। किसी को कभी तीन काल में शांति नहीं होती।

इसके पीछे यह अभिप्राय है कि, जीव को स्वयं के लिये ऐसा विचार करना चाहिये कि, मुझे तो अशांति हो ही रही है। अब, जहाँ तक मैं मेरे आनन्द का अनुभव नहीं करूँगा, अंतर आनंद का अनुभव नहीं करूँगा वहाँ तक यह अशांति की अग्नि कभी शांत नहीं होगी। और ऐसी अशांति कहाँ तक भोगनी है ? इसका विचार कर लेना चाहिये। अनंत काल गया, अभी भी जहाँ तक नहीं समझे, जहाँ तक अंतर्मुख नहीं होवे (तब तक) किसको मालूम (और) कितना अनंत काल जायेगा ? कितना अनंत काल जायेगा ? अनंत काल में भी कितना अनंत काल जायेगा किसको मालूम ? इसका दुःख लगा हो, अरे...! इसका दुःख ज्ञान में भासित होता हो, समझ में भासित होता हो तो सही रास्ते को ढूँढ़े और सही उपाय करे। एक ही बात है।

प्रश्न :- क्या उपाय है ?

समाधान :- यह तो कहते हैं। 'अंतर में अमृतफलों का चैतन्यवृक्ष लगा है...' तुझे इस वृक्ष को लगाना नहीं है, लगा हुआ है।

मुमुक्षु :- दिखता तो नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- देखता नहीं है तो दिखता नहीं है। एक चीज है तो देखनेवाले कहते हैं कि, है। एक आदमी कहता है कि, नहीं दिखता है। तो कहते हैं कि, तू देखता नहीं है (इसलिये) नहीं दिखता है। हमको क्यों दिखता है ? कि, है इसलिये दिखता है। बस ! इतनी सी बात है। देखने के लिये जितना प्रयत्न (होना चाहिये उतना करता नहीं)। ये लड़के को देखो। अभी तो तीन-चार साल का होता है (तो) उसे के.जी. में, क्रीडांगण में, बालमंदिर में भेजते हैं वहाँ से लेकर के स्कूल में जाता है, फिर कॉलेज में जाता है, फिर वह Graduate होता है तो वह Clerk के काबिल होता है। Clerk का काम कर सके इतनी कार्यक्षमता (प्राप्त करता है)। अभी जो Under graduate है, Bachelor होता है उसकी कक्षा है, उसकी योग्यता है। और इससे आगे बढ़े (तो) कितने साल जाते हैं ? कोई अठारह-बीस साल में होता है तो पन्द्रह साल हो गये। उसे आगे बढ़ने के लिये Higher technical degree लेने के लिये और Doctorate होना है तो दो-चार-पांच साल निकालने पड़ते हैं। (तब तक) आदमी पचीस साल का हो जाता है। तेईस साल, पच्चीस साल, सत्ताईस साल (का हो जाता है)। संसार में भी एक पेट भरने के लिये जीवको बीस-पच्चीस साल का परिश्रम करना पड़ता है। कितना Period है ? One generation... एक पीढ़ी का इसका Period बोला जाता है। पेट भरने के लिये इतना करना पड़ता है। अनन्त काल का सुख भोगने के लिये तूने क्या-क्या किया ? कितना परिश्रम किया ? जिस देह के लिये इतना परिश्रम (किया) तो सत्पुरुष कहते हैं कि, देह की जितनी दरकार तूने की

उससे अनन्तगुनी दरकार आत्मा की कर, करनी चाहिये।

अनंत काल, अनंत परिश्रम, अनंत दरकार, अनंत सावधानी देह के लिये की, अब उससे अनंतगुनी आत्मा के लिये करनी है। भाव से (करनी है), समय की इतनी जरूरत नहीं है। (क्योंकि) इतना समय नहीं लगता है। वस्तु में ताकत इतनी है कि काम करने में उतना समय नहीं लगता है। यह उसकी ताकत का कारण है। लेकिन भाव तो प्रचुर से, जोर से उठना चाहिये। 'जगत इष्ट नहीं आत्म से' सारे जगत को एक लात मारके उड़ा देना। जगत की मुझे कोई परवाह नहीं है, मैं मेरा काम पहले करूँगा। मेरे कार्य करने में जगत के कोई पदार्थ बीच में आवे और बाधा करे (तो) मैं उसको फेंक दूँगा। मेरा काम पहले है। ऐसे जोर से बात आनी चाहिये।

'सोगानीजी' कहते हैं कि, तराजु के एक पल्ले में तीनकाल तीनलोक और एक पल्ले में मेरा परमात्मा, मेरी आत्मा (यानी) मैं। मेरा पल्ला बैठ जाता है (दूसरा) पल्ला उलड़ जाता है। ऊँचा हो जाता है (ऐसे) नहीं, उस पल्ले को तो मैं फेंक देता हूँ। इतना मेरा मेरे पर वजन है ! तब काम होता है। काम जब होता है कि इतना वजन आता है तब। इतना महान मैं हूँ और इतनी मेरे कार्य की मेरे लिये इतनी Priority है, इतनी मुख्यता है, इतनी विशेषता है और सब गौण हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि, 'अंतर में अमृतफलों का चैतन्यवृक्ष लगा है उसे देख तो अनेक प्रकार के मधुर फल एवं रस तुझे प्राप्त होंगे...' देखने मात्र से ! जैसे कहते हैं कि, कोई प्रियजन का पच्चीस-पच्चीस साल का वियोग होता है तो देखते ही आनंदविभोर हो जाते हैं ! मिलने पर ही आनंदविभोर हो जाते हैं ! अभी तो दूर से देखे तो भी आनंदविभोर हो जाते हैं। यह तो अनन्त आनन्द से लबालब भरा हुआ पदार्थ है। अवरस्था

उसके सन्मुख होकर देखने (मात्र से) इतना आनंद छा जाता है, आनन्द समाता नहीं है।

मुमुक्षु :- 'घट अंतर न समाय'

पूज्य भाईश्री :- 'भागचंदजी' का पद है, 'घट अंतर न समाय' घट माने अंतर्मुख होनेवाली पर्याय। अन्तर में होनेवाली जो पर्याय (है) उसमें आनंद समाता नहीं है। इतना उभरकर इसमें भाव आता है। ऐसा रस - आनन्दरस तुझे प्राप्त (होगा), शांतरस प्राप्त होगा, ज्ञानरस प्राप्त होगा और 'तू तृप्त-तृप्त हो जायगा।' वास्तविक तृप्ति वहाँ आयेगी।

गुणस्थान अनुसार जितना साधकभाव सिद्ध होता है, सिद्ध माने प्राप्त होता है, उतनी तृप्ति बनती है। लेकिन तृप्ति की जो जात है वह परिपूर्ण तृप्ति है उसकी जात है। तारतम्यता हीनाधिक होती है लेकिन तृप्ति तृप्ति ही होती है, तृप्ति में अतृप्ति नहीं होती। जैसे वीतरागता है वह जघन्य वीतरागता, मध्यम वीतरागता, उत्कृष्ट वीतरागता तारतम्य भेद से कह सकते हैं। फिर भी वीतरागता में राग नहीं है। शुद्धि में जघन्य शुद्धि, मध्यम शुद्धि, उत्कृष्ट शुद्धि कह सकते हैं लेकिन शुद्धि में अशुद्धि नहीं है।

जैसे थोड़ा नफा है लेकिन उसमें नुकसान नहीं है। नफा तो नफा ही है और नुकसान है उसमें नफा नहीं है। है न ? चाहे थोड़ा हो या ज्यादा। वैसे तृप्ति में तृप्ति ही है, तृप्ति में अतृप्ति नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में तृप्ति होवे, शुद्धोपयोग होते ही तृप्ति होवे, उसमें तृप्ति ही होती है, उसमें अतृप्ति नहीं होती है।

कहते हैं कि, 'तू तृप्त-तृप्त हो जायगा।' इसलिये कहते हैं। कोई यह कहेंगे कि, अभी तो चतुर्थ गुणस्थान होगा और परिपूर्ण तृप्ति तो वीतरागपद में, बारहवें गुणस्थान में, तेरहवें गुणस्थान में होगी। (तो कहते हैं कि), नहीं, अभी से तू तृप्त हो जायगा। और चौदह गुणस्थान के पार जो पदार्थ है उसका तुझे स्वयं के रूप में अनुभव

होगा। फिर उसमें अतृप्ति का कहाँ सवाल है ? तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में, सिद्धदशा में पूर्ण तृप्ति होती है न ? यहाँ तो कहते हैं कि, चौदह गुणस्थान से पार तेरा स्वरूप है उसका अपनेरूप अनुभव होता है। उसमें अतृप्ति कैसे होगी ? उसमें अतृप्ति होने का सवाल नहीं है। ऐसा हो जायेगा।

मुमुक्षु :- आत्मा में ही सुख भरा है। महान पदार्थ है और वहीं सुख भरा है।

पूज्य भाईश्री :- सर्वोत्कृष्ट महान पदार्थ है। अपने लिये तो दूसरे सब पदार्थ निकम्मे हैं, किसी भी काम के नहीं हैं।

यहाँ संसार से विमुख होकर अपने स्वयं के हित में शामिल होने की यह प्रेरणा है। सत्पुरुष के वचनों में एक प्रेरणा है कि, तूने संसार का दुःख बहुत भोगा। अगर तूझे दुःख से छूटकर सुख में आना हो तो अन्तर में अमृतफल का चैतन्यवृक्ष लग गया है, लगा हुआ ही है। अनादि से तैयार है। पकापकाया फल है ! ऐसा भी नहीं है कि, पानी-खात लगाओ, सिंचन करो फिर पकेगा जब खायेंगे। पकापकाया अमृतफल तैयार है ! अपनी आलस से वह विमुख रहता है। सन्मुख होते ही बात खतम !

मुमुक्षु :- अरिहंत, सिद्ध उत्तम, मंगल शरण हैं, ऐसा आता है।

पूज्य भाईश्री :- यह व्यवहार से मंगल है। वह बोल तो आ गया। निश्चय से तो अपनी आत्मा परम मंगल है। स्वयं की आत्मा परम मंगल है इसके आगे अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय अपरम मंगल हैं। परम मंगल नहीं हैं, अपरम हैं। ऐसी बात है।

'गुरुदेव' तो प्रवचन में इससे भी आगे जाते थे कि, अपना त्रिकाली परमात्मा परमभाव है और इसके आगे सिद्धदशारूप परिपूर्ण शुद्धदशा अपरमभाव है।

प्रश्न :- सिद्धदशा ?

समाधान :- हाँ, अपरमभाव है। फिर दूसरे सिद्ध का तो कहना ही क्या ? स्वयं की सिद्धदशा की बात है। अभी तो हुई नहीं। कहनेवाले को तो अभी हुई नहीं। और जिनको होती है वे तो कहते नहीं। उनके तो भाषा रहती नहीं, वे तो अदेही हैं। उनको मन, वचन, काया का संजोग नहीं है। वे तो अशरीरी होते हैं तो उनके तो वाणी नहीं होती कि, वे (कुछ) कहे कि, सिद्धदशा से भी यह आत्मा परमोत्कृष्ट है। लेकिन जहाँ तक वाणी होती है, अर्हत, मुनिराज, सत्पुरुष आदि (को वाणी होती है)। अभी उनको सिद्धदशा नहीं हुई है। वे कहते हैं कि, इस परमभाव के आगे एक समय कि सिद्धदशा अपरमभाव है। होनेवाली सिद्धदशा अपरमभाव है। ऐसा जिनका सर्वोत्कृष्ट स्थान है, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट स्थान है वह स्वयं का निज आत्मपद है। 'जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत' यह इस स्वरूप की बात है।

प्रश्न :- इतना महान स्वरूप है फिर वह गया कहाँ ?

समाधान :- गया ही नहीं न ! कहीं गया नहीं, इधर ही है। किधर (भी गया) नहीं। वह 'सोगानीजी' ने लिया है। ६३७ (नंबर का बोल है)। 'मैं तो अभी ही सिद्ध हूँ।' ठीक ! अभी तो कपड़े भी पहने हुए हैं, अभी शरीर की दिग्बर दशा भी नहीं आयी (फिर भी) कहते हैं कि, 'मैं तो अभी ही सिद्ध हूँ।' इसके पहले अवस्था में 'चौदहवाँ गुणस्थान होगा...' मुनिदशा की तो बात ही नहीं करते। सिद्धपद आने के पहले 'चौदहवाँ गुणस्थान होगा और बाद में सिद्धालय में जाना होगा,...' अयोगी केवली दशा ! सयोगी केवली तक की बात नहीं ली। मुनिदशा की बात नहीं ली, सयोगी केवली - अरिहंत दशा की बात नहीं ली, अयोगी केवली की बात ली। सिद्धदशा की बात करनी है न ? तो इसके पहले तो चौदहवाँ गुणस्थान होगा, फिर सिद्धालय में जाना होगा। (यह सब)

निश्चित है, अपनी प्रतीत में वह बात निश्चित है कि, अभी तो सम्यग्दर्शन हुआ है लेकिन चौदहवाँ गुणस्थान होगा, होगा ही होगा। बाद में सिद्धालय में जाना होगा। क्षेत्रांतर हो जायेगा। माने इस मनुष्यलोकमें से सिद्धशिला तक जाना होगा। एक समय में इतनी मुसाफिरी - Travelling हो जायेगी। बिना साधन ! न मोटर चाहिये, न प्लेन चाहिये, न कोई जहाज चाहिये, न हवाईजहाज चाहिये, कुछ नहीं चाहिये। एक समय में 'क्षेत्रांतर वगैरह होगा; लेकिन यह सब कार्य पर्याय में होगा।' यह सब कार्य किसमें होगा ? मेरे त्रिकाली में नहीं। इसका मतलब (यह है)। पर्याय में होगा, मेरे में नहीं।

'लेकिन यह सब कार्य पर्याय में होगा। पर्याय का कार्य पर्याय में होता है,...' होगा तब होगा, होता है तो होता है, 'मेरे में नहीं। मैं तो अभी ही सिद्धालय में बैठा हूँ।' ठीक ! मैं अभी सिद्ध हूँ और मेरे सिद्धालय में बैठा हूँ। वह सिद्धालय दूसरा सिद्धालय है। मैं तो अभी ही सिद्ध हूँ। मेरे सिद्धस्थान में बैठा हूँ। आलय माने स्थान। जिनालय बोलते हैं, महालय बोलते हैं। महल को महालय बोलते हैं। जिन बैठते हैं उसे जिनालय कहते हैं। सिद्ध बिराजमान होते हैं उसे सिद्धालय कहते हैं। तो कहते हैं कि, मेरा सिद्धालय (यहाँ) है। असंख्यक्षेत्र का मेरा सिद्धालय है। यह मेरा असंख्य क्षेत्र का सिद्धालय तो अनादिअनन्त है। इस क्षेत्र में कोई फेरफार होता नहीं।

'अभी ही सिद्धालय में बैठा हूँ। कभी कहीं आया भी नहीं...' मेरे सिद्धालयमें से मैं कभी कहीं 'गया भी नहीं।' कभी (कोई) आया भी नहीं। ऐसा सिद्ध स्वरूप जो अपना आत्मा है, ऐसी इनकी भावना होती है। भावना इसलिये उसे कहते हैं कि, इसकी सन्मुखता का और इसरूप अनुभव का, इस रूप अभेद अनुभूति का प्रयत्न मौजूद है। इसलिये ऐसी निजपद की यह भावना है। उसे आत्मभावना कहते हैं। 'आत्मभावना भावता

जीव लहे केवलज्ञान रे

सारे शास्त्रों में, पूरे के पूरे सब शास्त्रों में यही एक बात कहने का कहनेवालों का मकसद है। यही एक अभिध्येय है और भगवान की दिव्यध्वनि में भी यही एक बात की मुख्यता रही। तीर्थकर की दिव्यध्वनि में, सभी तीर्थकरों की, अनंत तीर्थकरों की दिव्यध्वनि में यही एक आत्मस्वरूप की बात मुख्य रही। बार-बार हम तुझे तेरे निजपद को

दर्शाते हैं। यह भी इच्छा नहीं है, भगवान को तो इच्छापूर्वक वाणी नहीं होती। लेकिन पूर्वकर्म के फलरूप वाणी स्वयं भाषावर्गणारूप होकर पूर्व के द्रव्यकर्म के अनुकूल नोकर्मरूप बन जाती है। उसमें यही बात आती है। खुद तो वीतराग बन गये हैं, खुद को तो न लेना है, न कुछ देना है। न उपदेश देना है, न सुननेवालों से कुछ लेना है।

अहा ! आत्मा अलौकिक चैतन्यचन्द्र है, जिसका अवलोकन करने से मुनियों को वैराग्य उछल पड़ता है। मुनि शीतल-शीतल चैतन्यचन्द्र को निहारते हुए अघाते ही नहीं, थकते ही नहीं।

९१।

अब जो ९१ नंबर का बोल है वह मुनिदशा का बोल है। 'अहा ! आत्मा अलौकिक चैतन्यचन्द्र है, जिसका अवलोकन करने से मुनियों को वैराग्य उछल पड़ता है।' बोल छोटा होता है लेकिन इसमें भाव कितने भरे हैं ! कहते हैं कि, यह तो 'अलौकिक चैतन्यचन्द्र है,...' जैसे उपमा लेवे, चन्द्र की उपमा दी तो पूर्ण मास का जो चन्द्र है, पूर्ण मास ! वहाँ मास पूरा होता है। गुजराती में थोड़ा उलटा है। हिन्दुस्तान में तो पूनम को पूर्ण मास होता है और अमास माने अर्ध मास होता है। अर्ध मास को अमास कहते हैं। पूर्ण मास का चंद्र उदित होता है तो समंदर उछलता है। समंदर उछलता है कि नहीं उछलता है ?

यहाँ कहते हैं कि, मुनिराज को वैराग्य का समुद्र उछलता है, वीतरागता का समुद्र उछलता है। 'आत्मा अलौकिक चैतन्यचन्द्र है,...' लौकिक में जिसकी उपमा नहीं दे सकते। लोक में जिसकी बराबरी का कोई पदार्थ नहीं होने से जिसकी उपमा लागू नहीं कर सकते, ऐसा 'आत्मा अलौकिक चैतन्यचन्द्र है, जिसका अवलोकन करने

से...' अवलोकन मात्र से मुनिराज का उपयोग क्षण में अंतर में जाता है (तो) अंतरमें से वैराग्य उछलता है। असंख्य प्रदेश में, प्रदेश-प्रदेश में वीतरागता उछल पड़ती है।

प्रश्न :- यह तो मुनि की बात चली, हमें क्या करना ?

समाधान :- ऐसा होने की भावना (भानी है), भावना की बात है। 'अमेरिका' संपत्ति 'अमेरिका' में है। अभी यहाँ इसकी बात लोग क्यों करते हैं ? ऐसी लंबी-लंबी मोटर होती हैं ! उस वैभव में तेरी रुचि है। पौद्गलिक वैभव में तेरी रुचि है कि, इसका बंगला देखा ? उसके तो Toilet में Aircondition रखा है ! ठीक ! ऐसा कहेंगे। क्यों भाई ? तेरे पास तो है नहीं। लेकिन भावना जिसे होती है उसे यह बात आये बिना रहती नहीं।

जैसे भौतिक वैभव की भावनावाले को भौतिक वैभव की संपन्नता नहीं होनेपर भी इसकी महिमा रहती है तो दूसरे की तारीफ करते हैं। अपने (खुद को) मुनिपद नहीं होवे लेकिन जिसे

आत्मिकवैभव पैदा हुआ है (ऐसे) सत्पुरुष उनकी महिमा, उनकी तारीफ करते हैं। उनको यह भावना है कि, मेरी ऐसी दशा कब हो ! 'अपूर्व अवसर ऐसा कब आयेगा मुझे ?' ऐसी भावना होती है।

वह समझ में आये ऐसा नहीं है कि, आहार लेने जाय, जंगलमें से नगर तक आये और आहार नहीं मिले तो लौट जाये तो उन्हें आनन्द उछलता है, यह समझ में आये ऐसा नहीं है। क्योंकि यहाँ स्वयं को ऐसा अभ्यास है कि, इच्छित पदार्थ न मिले तो द्वेष होवे। अपनी इच्छा अनुसार नहीं हो तो द्वेष होवे। घर में एक छोटी बात में अपनी इच्छा अनुसार नहीं हो तो द्वेष होवे। 'मैंने ऐसा कहा था और किया नहीं।'

यहाँ मुनिराज की बात अलग है। अलौकिक दशा है ! ऐसी अलौकिक दशा है कि, द्वेष का सवाल ही नहीं। क्योंकि एक क्षण में अन्दर जाते हैं। यहाँ आहार का विकल्प चलता है तो भी चलते-चलते अन्दर आनन्द में चले जाते हैं। यहाँ विकल्प क्या आया कि, आहार का जोग नहीं है, योग नहीं है कि सीधे अन्दर चले जाते हैं। वह विकल्प छूटा कि सीधे अंदर जाते हैं। अन्दर में सीधा आहार लेते हैं, आनन्द का आहार ले लेते हैं (तो) तृप्ति होती है, आत्मा पुष्ट होता है। खलास ! विकल्प छूटा वह छूटा, फिर से वह विकल्प उत्पन्न नहीं होता। वीतरागता की स्थिरता इतनी है कि, आहार का विकल्प एक बार छूट गया कि, आहार नहीं। आज आहार नहीं लेना है फिर दूसरे दिन तक दुबारा विकल्प नहीं आता। विकल्प आता ही नहीं। उत्पन्न ही नहीं होता। ऐसी सीधी जोर से वीतराग दशा आती है ! यहाँ आहार का योग नहीं बनता तो दूसरे को जोर से द्वेष आता है, यहाँ जोर से ऐसी वीतराग दशा आये कि, चौबीस घण्टे तक तो दूसरा आहार का विकल्प उत्पन्न नहीं होता। ऐसा नहीं है कि, फिर से एक सेकण्ड में, दो सेकण्ड में दुबारा आहार का विकल्प आये

और उसे दबाकर जंगल में चले जाये। ऐसा नहीं है। चौबीस घण्टे तक तो वह प्रश्न ही नहीं है। अन्दर में उतना आनन्द और शांति है !

अमृतफल का चैतन्यवृक्ष लगा है। चैतन्य के अनेक गुणों के अनेक अलौकिक रस को पीते हैं। जैसे कोई अभी सेब का ज्यूस पीये फिर घटक...घटक... गन्ने का रस पीये और आम का रस पीये, रस के उपर रस पीये। वे सब फल के रस हैं। विभिन्न रस उसे कैसे मीठे लगते हैं ! वह मिठास तो कुछ नहीं है, वह तो इसके पास जहर है, उतनी मिठास जिसकी है ! जिसके पास यह मिठास जहर है, उतनी जिसकी मिठास है ! ऐसे विभिन्न आत्मगुणों का रस पीते हैं। विकल्प खलास हो गया। वह (फिर से) उत्पन्न हो वह प्रश्न नहीं है।

मुमुक्षु :- पूरे महीने में पाँच बार आये।

पूज्य भाईश्री :- महीने में पाँच बार क्या पाँच महीने में वे तो एक बार आहार करे !

मुमुक्षु :- मुँहमें से सुगंध निकलती हो।

पूज्य भाईश्री :- मुँह से (सुगंध) क्या ऐसे ऋद्धिधारी होते हैं कि, उनकी विष्टामें से सुगंध निकलती है, उनके परसीनेमें से सुगंध निकलती है ! चौसठ ऋद्धिधारी (पूजन) में आता है न ? उनके श्वासोश्वासमें से सुगंध निकले ! ऐसा तो देवों को भी होता है। देवों के शरीर में सुगंध होती है, देवों के शरीर में दुर्गंध होती नहीं। देव तो उनको वन्दन करते हैं ! वे सब देव तो उनको वन्दन करने आते हैं ! उपर से उतर-उतरकर आते हैं।

कहते हैं कि, 'जिसका अवलोकन करने से मुनियों को वैराग्य उछल पड़ता है। मुनि शीतल-शीतल चैतन्यचन्द्र को निहारते हुए अघाते ही नहीं, थकते ही नहीं।' आपणे गुजरातीमां 'धराता नथी' (कहे छे) धराता नथी अने थाकता नथी। धराता माने तृप्त होना।

जैसे भगवान 'बाहुबली' की प्रतिमा है (उसे) सामने देखते ही रहो (ऐसी है)। वैसी ही अरिहंत भगवान की प्रतिमा होती है। प्रतिमा क्या साक्षात् जो जिनबिब हैं, साक्षात् जो जिनबिब हैं (वह ऐसा ही होता है)। समवसरण में आखिर का परम औदारिक दशा में जो चरम शरीर है, वह ऐसा है कि, देखनेवाले उपयोग बदलना नहीं चाहते। उपयोग थम जाये। इतना तेजस्वी, इतना शांत (है)। इतना शांत तेज (है) और सब तरह से इतना सुंदर (है), सब तरह से इतनी सुंदरता (है कि), उपयोग बदलना नहीं चाहे। देखे वह तो देखते ही रहे, बस ! देखते ही रहे। खाना भी भूल जाये, पीना भी भूल जाये, टट्टी-पिसाब भूल जाये,

सब भूल जाये। नींद भूल जाये, सब भूल जाये। सब छूट जाये। साक्षात् तीर्थकर जो होते हैं (उनके) समवसरण में जाकर सब भूल जाता है। समवसरण में (जानेवाले) को वहाँ नींद नहीं आती। चौबीस घण्टे में छः बार (दिव्यध्वनि) निकलती है तो वहाँ कोई नींद नहीं लेते, न कोई खाने-पीने को जाते हैं, न कोई टट्टी-पिसाब को (जाते हैं)।

मुमुक्षु :- पौन सेकण्ड नींद होती है।

पूज्य भाईश्री :- नहीं, वह तो मुनि की बात है। यहाँ तो समवसरण में जानेवाले भगवान के दर्शन करे तो उसे वहाँ उपयोग घुमाना अच्छा नहीं लगता। ऐसा शांत सौम्यरूप होता है।

यहाँ तक रखते हैं।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हृदयोद्गार)

महत्ता के सामने बाहर का कुछ लक्ष ही नहीं है। अनुभवी, सम्यक्त्वी, आत्मज्ञानी हैं। आत्मा का अनुभव तो है परन्तु साथ ही असंख्य अरब वर्षों का जातिस्मरणज्ञान है। परन्तु लोगों को बैठना कठिन पड़े।



राजकोट, सन. १९८०

बहिन को तो एक आनन्द आनन्द आनन्द ! और दिनभर सहज निवृत्ति; बस, और कुछ भी नहीं। कोई वन्दन करे या न करे उसके सामने भी नहीं देखती। किसीके साथ कोई औपचारिक बातचीत नहीं।



ता.२९-९-७८

जिसे आनन्द में जमावट हुई है, जो अतीन्द्रिय आनन्द के कौर ले रहा है और जो अतीन्द्रिय आनन्द को गट-गट पी रहा है ऐसे धर्मीका (साधकका) यह स्वरूप बहिन के मुखसे (वचनमृत में) आया है। बिलकुल सादी भाषा। प्रभु के समवसरण में इस प्रकार बात चलती थी, भाई !... अरे ! यह बात बैठे वह तो निहाल हो जाये ऐसा है। जिनेश्वर भगवान का जो फरमान है वह बहिन कह रही हैं।



ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अगस्त-२०११) का शुल्क श्री धमेन्द्रभाई न्यालचंद वोरा के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

धन्य अवतार !

पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके संबंधमें परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हृदयोद्गार

ता.१२-९-७१

बहिन (चंपाबेन) की निर्मलता बहुत-बहुत ! निर्मलता-निर्मलता ! अपूर्व-अपूर्व स्मरण ! शांत एवं गंभीर ! बहिन तो धर्मरतन हैं। महाविदेह में बहुत निर्मलता थी; वहाँ की निर्मलता लेकर यहाँ आयी है। एकान्तप्रिय, शान्ति से अकेली बैठकर पुरुषार्थ करती रहती हैं। उन्हें कहाँ किसी की पड़ी ही है ! कुटुम्बकी भी नहीं पड़ी ! अन्तर स्वरूप-परिणति में रहती है।



ता.१९-९-७१

ओहो ! बहिन के ज्ञानकी निर्मलता की क्या बात कहें ! बहुत स्पष्ट ज्ञान !...बहिन तो जबरदस्त आराधना करती हैं। अकेली बैठी अपना काम करती ही रहती हैं। ...अब तो उन्हें बाहर लाना ही है। उनका जयजयकार होगा, उनकी बड़ी शानदार उन्नति होगी, जो जियेंगे वे देखेंगे। अलौकिक द्रव्य है, उनकी लाईन ही ओर है।



भाद्र सुदी ११, सं. २०२६

बहिन बोलती तो बहुत कम हैं। लड़कियों के बहुत भाग्य हैं। यदि मौन रहें तब भी उनके दर्शन से तो लाभ ही है।...हमें बहुत समय से ख्याल था कि बहिन कि बहुत शक्ति हैं।



कार्तिक कृ.१२, सं. २०२२

राजुल को पूर्वभवकी-गीता की याद आई वह तो सामान्य बात है; बहिनको (बहिनश्रीको) तो द्रव्य से और भाव से - दोनों प्रकार से स्मरण है। शुद्ध आत्मा के ज्ञान सहित का बहुत ज्ञान है। भावस्मरण अर्थात् निज शुद्ध आत्मा का, और द्रव्यस्मरण अर्थात् यह जीव स्वयं पहले कहाँ था वह, - उन दोनों का ज्ञान है। वे तो भगवतीस्वरूप हैं, भगवती बहिन है।



श्री कुन्दकुन्द-आचार्यदेव विदेह में गये थे उसके कौन साक्षी हैं ? साक्षी यह चंपाबेन बैठी हैं ये हैं।



बहिन की गंभीरता तो देखो ! बहिन के बोल (वचनामृत) बहुत गंभीर है। बहिन को तो कहाँ बाहर आना है ? बहुत उत्तम हुआ कि बहिन की यह पुस्तक बाहर आई। बहिन की पुस्तक तो बहुत सरस ! बहुत ही सरस ! जिसे अध्यात्म की रुचि हो उसके लिये तो बहुत ही अच्छी है। ऐसी पुस्तक कब बाहर आती ! बहिनका तो विचार नहीं था और बाहर आ गई। जगत के भाग्य हैं !



ता.२६-८-७२

बहिन का आत्मा तो मंगलमय है, धर्म रत्न है। हिन्दुस्तान में बहिन जैसी अजोड़ स्त्रियों में कोई है नहीं, अजोड़ रत्न है। स्त्रियों के तो महाभाग्य हैं जो ऐसा रत्न मिला है।



ता.१७-३-७३

इन बहिन की लाइन ही अलग है। इनका वैराग्य, जातिस्मरणज्ञान, इनकी दशा-सब कुछ अलग ही है। इन्हें कहाँ किसी की पड़ी ही है ! कोई वंदन करे या न करे, ये कहाँ किसीको देखती ही हैं !



५-८-७४

...बहिन तो चैतन्य-हीरा हैं, उनका हीरों से क्या सन्मान करना ! वे तो स्वयं ही हीरा हैं। मैं आहार करने उनके घर गया और कहा कि बहिन ! लोगों को बहुत उत्साह है। वजुभाई-हिंमतभाई (बहिनश्री के भ्राता) वहाँ बैठे थे। बहिन कहने लगी - 'मैं तो आत्मा की साधना करने यहाँ आयी हूँ, यह सब तो बोझ लगता है।' उन्हें बाहर की कुछ पड़ी नहीं, जितना करो उतना कम है।



बहिन को जातिस्मरण में आया है - भगवान के पास सुना है कि एक ऐसा सम्यक्त्व होता है जो क्षायिक को जोड़ता है, - ऐसा 'जोड़णी क्षायिक' होता है। उन्हें रुचता नहीं है परन्तु अब उसे कुछ-कुछ प्रगट कर रहे हैं। ...बहिन की पुस्तक बहुत सरस है, अकेला मक्खन है। 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' से भी चढ़ जाये ऐसी है। सादी, सरल भाषा में ऊँचा तत्त्व परोसा है।



ता.१७-९-८०

यह तो बहिन की भाषा बिलकुल सादी ओर अंतर से बोली गई है। यह तो जरा बोली और लिखा गया, नहीं तो बाहर आये ही कहाँ से ? अकेले रत्न भरे हैं। अन्यमती को भी ऐसा लगे कि ऐसा तो कहीं नहीं है। हीरों का भण्डार है।



ता.१९-९-८०

आहाहाहा ! बहिन की योग्यता ! ...यह (बहिन की यह वाणी) तो अंकित होना है पत्थरों में। ढाई लाख रुपये उस दिन (श्रावण कृष्णा दूजको) हो गये। (वचनमृत का) मकान बनाया जायगा।



राजकोट, सन. १९८०

यह बहिन के वचन हैं। अंतर आनन्द के अनुभवमें से आयी हुई बात है। बहुत जोर है अंतर का, अप्रतिहत भावना। आत्मा का सम्यग्दर्शन और अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति-उसमें से यह बात आयी है। आनन्द के स्वाद में मुरदे की भाँति चलती हैं। आहाहा ! सच्चिदानन्द प्रभु है बहिन ! अंतर की

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१४ पर)

पूज्य बहिनश्री चंपाबहन के प्रति पूज्य भाईश्री शशीभाई के हृदयोद्गार

बहुत अच्छे बोल लिये हैं ! इसमें भी मुमुक्षु की भूमिका के तो इतने अच्छे बोल हैं ! बहुत उपकार है कि ये सारी बातें प्रसिद्धि में आयी हैं जिससे कि लायक जीव को मिलान करना हो तो अंतर मिलान करके अपनी भूल से छूट जाये, ऐसा हो।
(गुजराती अध्यात्म सुधा-२, पृष्ठ-७८,७९)



कुछएक बोल एकदम अमूल्य आये हैं ! ऐसी अंतर से निकालकर बातें रखी हैं, प्रथम भूमिका में क्या करना चाहिये ? आगे बढ़कर भी जीव को क्या करना चाहिये ? ऐसे चलना... ऐसे चलना... ऐसे चलना... ऐसे चलना... तेरे ध्येय को भीतर में हासिल करने के लिये सब दिशाएँ स्पष्ट कर दी हैं। इस दिशा में आना, इस दिशा में मत जाना, इस दिशा में जाना। ऐसी बात है।
(गुजराती अध्यात्म सुधा-२, पृष्ठ-१०६)



एक-एक बोल ऐसे हैं हैं ! मुमुक्षुओं के लिये तो उसे नित्य स्वाध्याय करने का एक शास्त्र है जैसे अन्य मत में नहीं कहते हैं ? वहाँ गीता को मुख्यता देते हैं। और गीता में गीता के अग्रिम भाग में एक 'माहात्म्य' नाम का पाठ होता है। वह दूसरे ने बनाया है। 'गीता' की मूल रचना नहीं है। इसमें हररोज पढ़ने के ऊपर बहुत जोर दिया है कि हररोज पूरी गीता पढ़ना। पूरी नहीं पढ़ सके तो हररोज एक अध्याय पढ़ना, हररोज एक अध्याय नहीं पढ़ सके तो कुछएक श्लोक पढ़ना, आखिरकार कम से कम एक श्लोक पढ़ना, परन्तु तुम हररोज 'गीता' जरूर पढ़ना। यह (पूज्य बहिनश्री के वचनामृत) मुमुक्षु की गीता जैसा ग्रंथ है। मुमुक्षु के योग्य बहुत सी बातें की हैं। सम्यग्दृष्टि के - ज्ञानी की दशा के भी अनेकविध परिणाम दिखाये हैं कि, जिससे मुमुक्षु तथारूप अपनी दशा प्रगट कर सके, तथारूप अपनी विचारधारा को उत्पन्न कर सके और मुमुक्षु के योग्य भी अनेक प्रकार की, अनेक पहलू की बातें की हैं और सारी बातें अनुभवगम्य-अनुभवसिद्ध हैं।
(गुजराती अध्यात्म सुधा-२, पृष्ठ-१४८)



इन वचनामृतों पर प्रवचन करते हुए 'गुरुदेवश्री' तो कहते थें कि, यह भगवान की वाणी है ! यह दिव्यध्वनि में आया हुआ विषय है। यह भगवान की वाणी जिनवाणी हैं, यह जिनवाणी हैं। अगर जिनकी वाणी पूज्य हो जिनकी जड़ वाणी पूज्य हो, इसके लिये कहने की जरूरत है क्या, समझाने की जरूरत है क्या कि (वे ज्ञानी) पूज्य हैं या अपूज्य हैं ?

वर्तमान समाज को अभी किस बात की जरूरत है वह 'पूज्य बहिनश्री' के ज्ञान में जो आया है वह असाधारणरूप से आया है। अतः वही विषय उनके प्रवचन से निकला है। ये तो प्रवचनमें से निकली बात लिख ली गई है न ? भले ही सालों पहले बात हुई है तो भी सांप्रत मुमुक्षु समाज की योग्यता को क्या परोसना चाहिये, क्या देना चाहिये, क्या देना आवश्यक है वह असाधारण रूप से ज्ञान में आकर यह बात निकली है।
(गुजराती अध्यात्म सुधा-२, पृष्ठ-२९५)



(पूज्य बहिनश्री के) मन-वचन-काया के योग एकदम शांत है। यह झलक है उनमें। यह मुनिराज की झाँखी है इसलिये ऐसा कहा। भले ही सम्यग्दृष्टि हैं किन्तु मुनिराज की झाँखी है। (गुजराती अध्यात्म सुधा-३, पृष्ठ ४)

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-३० पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.६-८-१९९१

'ज्ञानानंदी गढ़,...' देखो ! अब गुरुदेवको विशेषण दिया है। गुरुदेव हैं सो ज्ञानानंदी गढ़ हैं। 'ज्ञानानंदी गढ़, वीतरागप्रधानी गुरुदेवकी प्रशस्त राग अंश निमित्तक सिंहगर्जना....' कैसे हैं गुरुदेव ? कि वीतरागप्रधानी हैं। ऐसे गुरुदेवकी प्रशस्त रागके अंशरूप (अर्थात्) परिणाममें प्रशस्त रागका अंश है। पूरा राग नहीं, पूराका पूरा राग नहीं, रागमें तन्मय नहीं है। रागके अंशसे (अर्थात्) अंशके निमित्तसे उत्पन्न हुई, क्या ? (कहते हैं) सिंहगर्जना जैसी वाणी - प्रवचन। रागांश निमित्तक प्रवचन ऐसा कहते हैं, 'सिंहगर्जनाओंसे ४७ नयोंपर पुण्यवान मुमुक्षुओंको उल्लासित प्रवचनोंका लाभ हुआ, जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई।' उस वक्त ४७ नय पर प्रवचन चलते होंगे और पत्र लिखनेवालेने यह समाचार लिखे होंगे कि, यहाँ पूज्य गुरुदेवके ४७ नयों पर बहुत अच्छे प्रवचन आ रहे हैं। यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। गुरुदेव तो ज्ञानानंदी गढ़ हैं, वीतरागप्रधानी हैं और एक रागके अंशके निमित्तसे जो वाणी छूटती है उसमें भी अद्भुत बातें आती हैं !!

मुमुक्षु :- प्रशस्त राग अंश ऐसा लिखा है।

पूज्य भाईश्री :- (हाँ) प्रशस्त राग अंश - प्रवचन देनेका राग है वह प्रशस्त राग है। अप्रशस्त अर्थात् अशुभ और प्रशस्त अर्थात् शुभ। परंतु शुभसे प्रशस्त शब्द है वह साहित्यकी भाषामें थोड़ा विशेष सुशोभित शब्द है। प्रशस्त राग निमित्तक वाणी निकलती है।

मुमुक्षु :- गुरुदेवकी वर्तमान पर्यायके दोनों पहलू उनके खयालमें हैं।

पूज्य भाईश्री :- सब खयालमें है। ज्ञानानंदी गढ़ हैं और राग तो एक अंशमें - चारित्रगुणकी पर्यायमें होता है, उसके निमित्तसे वाणी निकलती है उसमें भी मुमुक्षुओंको लाभ होता है ! थोड़ी कीमत करने जैसा विषय तो यह है कि, जो स्वयं - उनका आत्मा है उसकी तो क्या कीमत की जाये !! उनकी साधकदशामें शांति व अमृतका प्रवाह चलता है, इसकी तो क्या कीमत करें !! जब कि उस शुद्ध पर्यायके परिणामके साथ-साथ, बगलमें एक दूसरी रागकी पर्याय भी चलती है - जो मलिन है और यह पवित्र है - साधकदशाका अंश पवित्र है। उसके साथ-

साथ प्रवचन देनेका प्रशस्त राग है वह मलिन है। और इस मलिनताके निमित्तसे वाणी निकली वह तो पुद्गल है !! वह तो चैतन्य भी नहीं है ! इसमें तो फिर भी चैतन्यका अंश है। ऐसी पुद्गल (वाणी) दूसरे जीवोंको निमित्त होनेमें - वे पुद्गल ही दूसरे जीवोंको चैतन्यदशा प्रगट होनेमें निमित्त होते हैं !!! तीसरे तिराहे पर इतना लाभ होता हो तब सीधा लाभ कितना होगा !! परंपरा ले तो आत्मा ज्ञानानंदी गढ़ है, इसके कारणसे पवित्रदशा है, उसके अवलंबनसे - उसके कारणसे (पवित्रदशा है)। वह अवलंबन (जो) चालू है वह पूर्ण नहीं बल्कि अपूर्ण है इसलिए उस वक्त राग-प्रशस्त राग व्यवहारका उत्पन्न होता है। और उस व्यवहारके रागके निमित्तसे वाणीके पुद्गल उत्पन्न होते हैं, यह तो निमित्त-निमित्तकी (अपेक्षासे बात ले) तो (ऐसी बात है)। और उस निमित्तसे दूसरेको चैतन्यका लाभ होता हो ! तो सीधा उनके आत्मामें कितना लाभ होता होगा !!! दूसरोंको भी - भिन्न द्रव्यमें तीसरे तिराहेमें (भी) आत्माके निमित्त-नैमित्तिक संबंधसे लाभ होता है, तो उनके आत्मामें कितना लाभ !!! हमलोग कहते हैं न ! हीरेकी कीमत कितनी ? जब उसकी रजकी कीमत भी इतनी बड़ी होती है तो नक्की कीजिये कि (हीरेकी कीमत) कितनी ?

'जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई। पुण्यअभावयोगसे इस अवसरसे मुझे वंचित होना पड़ा, इसका खेद रहा।' (अर्थात्) मेरे पुण्यका अभाव है इसलिए मुझे उन प्रवचनोंके लाभसे वंचित रहना पड़ा है, इसका मुझे खेद है। देखो ! सत्संगको गौण नहीं करते हैं ! सत्संगके प्रति बहुत खिँचाव है।

'श्री गुरुदेवके प्रवचनोंका मुख्य सार मैंने यह लिया है :-' ऐसा करके खुदके परिणामकी बात करनी है। गुरुदेवसे मैंने यह लाभ पाया है। गुरुदेवके प्रवचनोंसे यह सार मुझे ग्रहण हुआ है - ऐसा करके (बात) गुरुदेवके माथे पर चढ़ाते हैं।



पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि को शुभभाव को निषेध वर्तता है तथापि ज्ञानी के प्रति सच्ची अर्पणता उसीको होती है, यह विचित्र नहीं लगता ?

समाधान :- स्वभाव में शुभभाव नहीं है इसलिये उसकी दृष्टि में शुभभाव का आदर नहीं होता - ऐसी वस्तुस्थिति है। सम्यग्दृष्टि एक चैतन्यतत्त्व को ग्रहण करता है, परन्तु बीच में शुभभाव आये बिना नहीं रहते। चैतन्यतत्त्व ही सर्वस्वरूप से अंगीकार करने योग्य है। चैतन्यतत्त्व बिना जगत में अन्य कुछ भी सारभूत नहीं है। यह जो विभाव है वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह दुःखरूप-आकुलतारूप है। जिन्होंने ज्ञायकस्वभाव को सम्पूर्णरूप से ग्रहण किया अर्थात् पुरुषार्थ करके स्वरूप में लीनता होकर केवलज्ञान प्राप्त किया है; तथा जो बारम्बार स्वरूप में लीन होते हैं ऐसा मुनिवर उन सबके प्रति सम्यग्दृष्टि को आदरभाव आता है क्योंकि उसे अपने स्वभाव का आदर है। मुझे मेरा स्वभाव ही आदरणीय है, विभाव तो हेयरूप ही है - ऐसे यथार्थ दृष्टि-प्रतीति हुई है; फिर भी जिन्होंने ऐसी दशा प्रगट की है उनकी महिमा भी आती है। मेरा स्वभाव जुदा है और यह विकल्प जुदे हैं। स्वयं शुभराग को आदरणीय नहीं मानता, तथापि शुभभाव में खड़ा है इसलिये शुभभाव के निमित्त जो देव-शास्त्र-गुरु उनकी महिमा भी उतनी ही आती है। उसे स्वभाव की महिमा है और विभाव तुच्छ लगते हैं; ऐसा होनेपर भी जिन्होंने उसे प्रगट किया है, जो उसकी साधना कर रहे हैं उनकी महिमा आती है। सम्यग्दृष्टि को अपने स्वभाव की महिमा है इसलिये जिन्होंने स्वभाव को प्राप्त किया है ऐसे ज्ञानियों के प्रति यथार्थ महिमा आती है।

वह अंतर्दृष्टि में ऐसा मानता है कि शुभभाव मेरा स्वभाव नहीं है और उसी क्षण भेदज्ञान की

धारा भी वर्तती है। - इस प्रकार उसको शुभभाव आदरणीय नहीं है, तथापि शुभभाव का रस अधिक होता है और स्थिति अल्प पड़ती है।



(स्वानुभूतिदर्शन-२३२)



प्रश्न :- जितना हो सके उतना स्वाध्याय, मनन आदि प्रयत्नपूर्वक करते हैं तथापि व्यावहारिक जीवन में कई बार झूठ बोलने या मायाचारी के भाव हो जाते हैं; किसी जीवको दुःख होगा ऐसा सोचने की भी दरकार नहीं रहती। यद्यपि यह सब बाह्य है, फिर भी क्या उन परिणामों से आत्मसाधना में या अपनी पात्रता में हानि नहीं होती ?

समाधान :- स्वयं समझ लेना कि किस प्रकार के भाव आते हैं। मुमुक्षु की भूमिका में भीतर आत्मार्थ का प्रयोजन मुख्य होता है। आत्मार्थी को शोभा न दें जैसे विचार-मर्यादा को तोड़करके जो हों उस तरह के आत्मार्थी को नहीं होते, जैसे कार्य भी आत्मार्थी के नहीं होते। जिनमें आत्मार्थिता का पोषण हो, आत्मार्थिता मुख्य रहे जैसे भाव आत्मार्थी के होते हैं। अपनी आत्मार्थिता की मर्यादा जिनमें टूट जाय जैसे भाव आत्मार्थी को नहीं होते। अपने परिणाम कैसे हैं उनका विचार करके, उनमें कचास हो तो स्वयं को अपनी पात्रता बढ़ानी चाहिये। मुख्य प्रयोजन तो आत्मार्थी का है। आत्मार्थिता को कहीं भी नुकसान पहुँचे जैसे मर्यादारहित परिणाम आत्मार्थी के नहीं होते। (स्वानुभूतिदर्शन-२३३)



प्रश्न :- स्वाध्याय करते समय ज्ञाता-दृष्टापना रखना चाहिये तो वह कैसे रखना ?

समाधान :- अपने अंतर में ज्ञायक की

परिणति प्रगट हुई हो तो उस काल ज्ञाता-दृष्टापना रहता है। अभी जिसे ज्ञातापना प्रगट ही नहीं हुआ उसे तो ज्ञाता-दृष्टापना रखना मुश्किल पड़ता है। ज्ञायक को पहिचानकर, भेदज्ञान करके ज्ञाताकी-भेदज्ञान की परिणति प्रगट की हो तो प्रत्येक शुभ एवं अशुभभाव में ज्ञातापना सहजरूप से रहता है। मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ इसप्रकार प्रतिक्षण ज्ञाता के अस्तित्व तरफ की परिणति सहजरूप से बनी ही रहती है। श्रुतका चिंतवन या शास्त्राभ्यास के काल में भी ज्ञाताधारा निराली ही रहती है। जिसे एकत्वबुद्धि है, जिज्ञासु की भूमिका है उसे ज्ञातापना नहीं होता; उसे मात्र भावना रहती है कि मैं ज्ञायक हूँ, परन्तु परिणति प्रगट करनी बाकी है।

जिसे ज्ञायक की दशा प्रगट हुई है, स्वानुभूति दशा प्रगट हुई है वह सविकल्पदशा में आये तब भी उसे भेदज्ञान की धारा वर्तती है। दर्शन करे, पूजा करे, कुछ भी करे तथापि उसे भेदज्ञानकी धारा चलती ही रहती है।

बाहर से भगवान की भक्ति अधिक दिखाई दे, श्रुतका चिन्तन विशेष दिखाई दे, तथापि ज्ञानीको कहीं एकत्वबुद्धि नहीं होती; ज्ञायक की धारा निराली ही वर्तती है। कर्म में अमुक प्रकार का रस अधिक पड़ता है परन्तु उसे भेदज्ञान की धारा वर्तती है इसलिये स्थिति लंबी नहीं पड़ती।

(स्वानुभूतिदर्शन-२३४)



प्रश्न :- जितना यह ज्ञान है उतना यह आत्मा है, इसे विशेष स्पष्टापूर्वक समझाने की कृपा करें।

समाधान :- गुण और गुणी अभेद हैं। जो यह ज्ञानलक्षण दिखाई देता है उतना आत्मा है। ज्ञान के अतिरिक्त सब विभाव एवं पर है। यह जो ज्ञानलक्षण दिखाई देता है उस ज्ञानलक्षण से तू आत्मा को पहिचान ले। जो ज्ञानलक्षण दिखाई देता है उतना आत्मा है। लक्ष्य-लक्षण एक ही है - अभेद है; उसे ग्रहण कर। तू ज्ञायक को

ग्रहण कर ले।

(स्वानुभूतिदर्शन-२३५)



प्रश्न :- इस सिद्धांत द्वारा क्या आचार्यदेव ज्ञायक को ग्रहण कराना चाहते हैं ?

समाधान :- हाँ, ज्ञायक को ग्रहण कराना है। जितना यह ज्ञान है उतना यह आत्मा है। बाकी जो दिखाई देता है वह सब विभाव है। तू एक ज्ञानलक्षण आत्मा को पहिचान ले, एक ज्ञायक को पहिचान ले; उसपर दृष्टि कर; गुण-गुणी अभेद है उसपर दृष्टि स्थापित कर दे; उसमें संतुष्ट हो, उसमें रुचि कर, उससे तृप्त हो; उसीमें सर्वस्व है, बाहर कुछ नहीं है। उसपर दृष्टि स्थापित करके उसका ज्ञान कर, उसकी परिणति कर, उसमें से सन्तोष प्राप्त होगा, उसमें से तृप्ति आयेगी और उसमें से ही अपूर्व सुख प्रगट होगा। भगवानस्वरूप आत्मा में ही सब कुछ भरा है। - ज्ञायक में ही सब कुछ भरा पड़ा है।

किसीको ऐसा लगे कि अकेले ज्ञान में क्या है ? ज्ञान से क्या मिलेगा ? परन्तु उस ज्ञान में अनन्त-अनन्त भरा है। जितना यह ज्ञान है उतना आत्मा है, उसे तू ग्रहण कर। (स्वानुभूतिदर्शन-२३६)



प्रश्न :- व्यवहार के अनेक भेद होते हैं, परन्तु मुख्यता तो अभेद की है न ?

समाधान :- भेद के ऊपर से दृष्टि उठाकर एक अभेद को ग्रहण करनेका है। एक अभेद को ग्रहण करने से भेद का ज्ञान बीच में आ जाता है, परन्तु भेदपर दृष्टि नहीं रखनी है। अन्य सब का ज्ञान कर, और दृष्टि अभेदपर कर। उसमें दृष्टि स्थापित करनेपर उसमें से शुद्ध पर्यायें स्वयं प्रगट होंगी। पहले तू यथार्थ निश्चय कर कि ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ। यथार्थ दृष्टि प्रगट कर। दृष्टि ही मुख्य है। एक अभेद आत्मापर दृष्टि कर।

(स्वानुभूतिदर्शन-२३७)

बंबई, श्रावण सुदी, १९४७

उपाधि के उदय के कारण पहुँच देना नहीं हो सका, उसके लिये क्षमा करें। यहाँ हमारी उपाधि के उदय के कारण स्थिति है। इसलिये आपको समागम रहना दुर्लभ है।

इस जगत में, चतुर्थकाल जैसे काल में भी सत्संग की प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है, तो इस दुःषमकाल में उसकी प्राप्ति परम दुर्लभ होना सम्भव है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकार से सत्संग के वियोग में भी आत्मा में गुणोत्पत्ति हो उस उस प्रकार से प्रवृत्ति करने का पुरुषार्थ वारंवार, समय समय पर और प्रसंग प्रसंग पर करना चाहिये, और निरंतर सत्संग की इच्छा, असत्संग में उदासीनता रहने में मुख्य कारण वैसा पुरुषार्थ है, ऐसा समझ कर जो कुछ निवृत्ति के कारण हों उन सब कारणों का वारंवार विचार करना योग्य है।

हमें यह लिखते हुए ऐसा स्मरण होता है कि 'क्या करना ?' अथवा 'किसी प्रकार से नहीं हो पाता ?' ऐसा विचार आपके चित्त में वारंवार आता होगा, तथापि ऐसा योग्य है कि जो पुरुष दूसरे सब प्रकार के विचारों को अकर्तव्यरूप जानकर आत्मकल्याणमें उत्साही होता है उसे, कुछ नहीं जानने पर भी, उसी विचार के परिणाम में जो करना योग्य है, और किसी प्रकार से नहीं हो पाता, ऐसा भासमान होनेपर उसके प्रकट होनेकी स्थिति जीव में उत्पन्न होती है, अथवा कृतकृत्यता का साक्षात् स्वरूप उत्पन्न होता है।

दोष करते हैं ऐसी स्थिति में इस जगत के जीवों के तीन प्रकार ज्ञानी पुरुषने देखे हैं। (१) किसी भी प्रकार से जीव दोष या कल्याण का विचार नहीं कर सका, अथवा करने की जो स्थिति है उसमें बेभान है, ऐसे जीवोंका एक प्रकार है। (२) अज्ञानतासे, असत्संग के अभ्याससे भासमान बोध से दोष करते हैं उस क्रियाको कल्याणस्वरूप माननेवाले जीवोंका दूसरा प्रकार है। (३) उदयाधीनरूपसे मात्र जिसकी स्थिति है, सर्व परस्वरूप का साक्षी है ऐसा बोधस्वरूप जीव, मात्र उदासीनता से कर्ता दिखायी देता है; ऐसे जीवों का तीसरा प्रकार है।

इस तरह ज्ञानी पुरुषने तीन प्रकार का जीव-समूह देखा है। प्रायः प्रथम प्रकार में स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदिकी प्राप्ति-अप्राप्ति के प्रकार में तदाकार-परिणामी जैसे भासित होनेवाले जीवों का समावेश होता है। भिन्न-भिन्न धर्मों की नामक्रिया करनेवाले जीव, अथवा स्वच्छंदपरिणामी और परमार्थमार्ग पर चलते हैं ऐसी बुद्धि रखनेवाले जीवोंका दूसरे प्रकार में समावेश होता है। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदिकी प्राप्ति-अप्राप्ति इत्यादि भावमें जिन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ है अथवा हुआ करता है; जिनका स्वच्छंद-परिणाम गलित हुआ है, और जो ऐसे भावके विचार में निरंतर रहते हैं, ऐसे जीवोंका समावेश तीसरे प्रकार में होता है। जिस प्रकार से तीसरा भेद सिद्ध हो ऐसा विचार कर्तव्य है। जो विचारवान है उसे यथाबुद्धि से, सद्ग्रंथ से और सत्संग से वह विचार प्राप्त होता है, और अनुक्रम से दोषरहित स्वरूप उसमें उत्पन्न होता है। यह बात पुनः पुनः सोते जागते और भिन्न भिन्न प्रकार से विचार करने, स्मरण करने योग्य है।



मुमुक्षुजीव के आदर्श समान धन्यावतार प्रशममूर्ति
'पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन' के ९८ वें मंगलकारी जन्मोत्सव के
अवसर पर अत्यंत विनम्रभाव से, दासत्वभाव से कोटि कोटि वंदन !



गुरुदेवश्री की प्रवचन सभा में पूज्य बहिनश्री बिराजमान थे तो यह भाव और सूक्ष्म से सूक्ष्म न्याय निकले हैं, अध्यात्म के ऊँचे भाव निकले हैं, वह कोई नहीं समझता उसके सामने देखकर नहीं निकले हैं। जो समझे हैं, जो ग्रहण कर सकते हैं, जो पकड़ सकते हैं उनके कारण से निकलते हैं। तीर्थकर की सभा में गणधर की हाजीरी से यह बात निकलती है। वह प्रकार था तो उसका लाभ सबको मिला। यह उनका उपकार है। गणधर का उपकार इसीलिए गाया जाता है कि, आप थे तो हमें लाभ मिला, वरना वाणी ही न छूटती।

(पूज्य गुरुदेवश्री की) अभी जो वाणी उपलब्ध है उसका भी यही कारण है। उनका उपकार है। (वे) ग्रहण करनेवाले थे तो अन्दर से भाव निकलते थे।

- पूज्य भाईश्री शशीभाई